

भारतीय चिंतन परंपरा में ज्ञान, विद्या और कौशल (II)

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी से हुमा अंसारी की बातचीत

हरेक समाज ने सीखने-सिखाने की अपनी परंपराएं विकसित की हैं। साथ ही शिक्षार्थी को ज्ञान संप्रेषित करने के तरीके भी खोजे हैं। कोई भी परंपरा स्थिर और स्थायी नहीं होती। समय के साथ उसमें बदलाव आते हैं। भारतीय परंपरा में सीखने-सिखाने का क्या स्वरूप रहा है और समय के साथ वे कैसे बदली हैं? शिक्षक की अवधारणा में किस तरह के बदलाव आए हैं और इन बदलावों में किस तरह के दबाव हावी रहे हैं; यह बातचीत इन्हीं मुद्दों पर केन्द्रित है।

प्रश्न : ज्ञान होना और ज्ञान के सही प्रयोग की समझ होना यानी विवेकसम्मत ज्ञान, इसके बारे में शास्त्र क्या कहते हैं? सही मायने में कब कहा जा सकता है कि ज्ञान प्राप्त हुआ?

उत्तर : यह थोड़ा मुश्किल सवाल है। यह तो अपने भीतर के बोध से ही जाना जाएगा कि हमें ज्ञान हुआ है या नहीं हुआ। लेकिन ज्ञान के निर्माण या ज्ञान के भीतर घटित होने को लेकर उपनिषदों के शिक्षक काफी प्रयोग करते थे। छांदोग्य उपनिषद का एक प्रसंग है जिसमें उद्दालक अपने पुत्र स्वेतकेतु से संवाद करते हैं। उन्होंने अपने 12 साल के बेटे स्वेतकेतु को गुरुकुल पढ़ने के लिए भेजा। 12 साल के अध्ययन के बाद जब वह 24 साल का हो गया तो लौटकर आया। उसे बहुत गर्व था कि मैंने चारों वेद, सारे वेदांग पढ़ लिए हैं। जितनी विद्याएं हैं उन सब पर मैंने अधिकार प्राप्त कर लिया है। वह बहुत ही विलक्षण बुद्धि वाला था और उसे अपनी विद्या पर बड़ा अभिमान भी था। उसके पिता उद्दालक

उपनिषदों के बहुत बड़े विचारक हैं। जब वह लौटकर अपने पिता के पास आया तो उन्होंने उससे पूछा कि तुमने क्या-क्या पढ़ा? उसने बताया कि हमने यह सब पढ़ लिया है।

उद्दालक ने स्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने उस तत्व को भी जाना है जिसके जानने से सब कुछ जान लिया जाता है? उसने कहा कि ऐसा तो हमने नहीं जाना। हमारे गुरुओं ने ऐसा कुछ नहीं बताया कि कोई एक चीज ऐसी होती है जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाए। मुझे लगता है कि वहां हमारे जो गुरु थे उनको भी यह मालूम नहीं था। यदि उनको मालूम होता तो वे हमें बताते। अगर आप जानते हैं तो आप बताइए। तब उद्दालक उसे कई तरह से बताते हैं। इसे हमारे यहां दृष्टांत भी कहते हैं। हमारे यहां दृष्टांतों की प्रणाली के द्वारा समझाने की प्रक्रिया का विकास किया गया। फिर वे स्वेतकेतु से पूछते हैं कि अब बोध हुआ कि नहीं, अब तुम समझ पाए या नहीं, ऐसा वे बार-बार पूछते हैं। बोध को उत्पन्न करना और यह परीक्षण करना कि वह भीतर जागृत हुआ या नहीं, इसके लिए यह एक तरह के उपाय, रूपक या दृष्टांत हैं। उसके लिए हमारे यहां एक प्रणाली विकसित की गई। खैर... उस कथा में काफी लम्बा संवाद है। वे कहते हैं कि जैसे एक घड़े को समझ लो कि वह कैसे बना है तो जितनी चीजें मिट्टी से बनी हुई हैं उन्हें भी समझ सकते हो। इसी तरह इस संसार में जितनी चीजें हैं उन सब में जो समाया या पिरोया हुआ है, उसे समझ लो तो सारे संसार को समझ लो। एक को जानने

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

भारत में संस्कृत के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान। संस्कृत में योगदान के लिए राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली के उप-कुलपति हैं।

हुमा अंसारी

टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई से एम.ए. करने के बाद केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध छात्रा हैं।

से सबको जान सकोगे, ऐसा अन्य कई उदाहरणों से वे उसे समझाते हैं। उसमें बहुत सारे उदाहरण हैं। फिर भी उसे समझ में नहीं आता क्योंकि यह कहने में तो आसान लगता है लेकिन एक को जान लेने से सारी दुनिया को हम कैसे समझ लेंगे, यह सवाल बना रहता है। आखिर में बहुत सारे उदाहरण देकर कहते हैं कि यह गूलर का पेड़ लगा हुआ है। इससे गूलर का फल तोड़कर लाओ। वह एक फल तोड़कर लाता है। फिर कहते हैं कि तुम इस फल को तोड़ो। गूलर बहुत मुलायम होता है। वह उसे फोड़ लेता है और उसे खोलता है। उसमें उसे बहुत बारीक-बारीक बीज हिलते हुए दिखते हैं। उद्दालक पूछते हैं कि इसमें क्या देखते हो? स्वेतकेतु कहता है कि इसमें अणु के बराबर छोटे-छोटे बीज हिल रहे हैं। वे कहते हैं कि इसमें से एक बीज निकालकर उसे तोड़ो। वह एक बीज निकालकर तोड़ता है। उद्दालक उससे पूछते हैं कि इसमें क्या देखते हो? वह कहता है कि इसमें कुछ भी नहीं है। उन्होंने कहा कि जिसे तुम कह रहे हो कि इसमें कुछ भी नहीं है उसी में बीज, फल और फिर इतना बड़ा पेड़ समाया हुआ है। अगर तुम इसे जान लोगे तो इस बीज को, फल को और सारे पेड़ को जान सकोगे। इसी तरह कोई एक तत्व है जो कि इस सब में पिरोया हुआ है। इसे समझ सकोगे तो इस पूरी सृष्टि को समझ सकोगे।

बोध भीतर हुआ या नहीं, यह कह पाना तब तक मुश्किल हो जाता है जब तक उसे स्वयं अनुभव न हो जाए। यह तभी माना जाएगा जब उसे बोध हो जाए। अन्त में स्वेतकेतु कहता है कि हां, अब मुझे बोध हुआ। स्वानुभूति को अपने-आपमें एक प्रमाण माना गया है। सारे वेदांग की परंपरा में, कविता में भी अनुभव को ही प्रमाण माना गया है कि कौनसा रस है या कौनसी कविता अच्छी है। स्व-हृदय का अनुभव उसमें प्रमाण है।

कई बार यह कह पाना मुश्किल होता है कि कब हमें ज्ञान हुआ। इसका कोई एक पैमाना, कम से कम एक स्थूल पैमाना, तो हो नहीं सकता है। मनुष्य जितना अपने-आपको जान सके, अपने भीतर झांककर देख सके कि उसे सचमुच में ज्ञान का बोध हुआ या नहीं और वह विश्वास से कह सके कि हां, मुझे बोध हुआ है, तब ही माना जाएगा कि उसे ज्ञान का बोध हुआ है। इसके लिए हमारे यहां प्रणालियां विकसित की गईं जिनसे हम एक हद तक पहचान सकते हैं कि हां, बोध हो रहा है। क्योंकि उपनिषदों में शिक्षण के बहुत सारे सिद्धांत आते हैं और प्राचीन शिक्षा प्रणाली का बड़ा सुन्दर रूप भी उपनिषदों में देखने को मिलता है। बहुत से दस्तावेज हैं कि गुरु लोग कैसे बोलते थे, कैसे सिखाते थे, कैसे शिष्य को ज्ञान देना चाहते थे। इस विधि में सबसे पहले प्रश्न आता है। शिष्य प्रश्न करेगा कि मुझे यह जानना है और फिर गुरु उसका उत्तर देंगे। उसके बाद अनुप्रश्न है। प्रश्न करने पर उससे जुड़े हुए जो दूसरे सवाल पैदा होते हैं, अवान्तर प्रश्न पैदा होते हैं, वे अनुप्रश्न हैं। यह दूसरा हुआ। तीसरा अनैति प्रश्न है। प्रश्न और अनुप्रश्न करने के बाद जो सवाल-जवाब का सिलसिला होगा उसमें हम कहीं भटक जाते हैं या ऐसे मुकाम पर पहुंचते हैं जिनके आगे सवाल करने से आगे कुछ हासिल नहीं होता है; उसको अनैति प्रश्न कहते हैं। अर्थात् इससे आगे अब सवाल नहीं किया जाएगा या अब इससे आगे सवाल नहीं हो सकता है।

उपनिषद में गार्गी और याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ है। गार्गी पूछती जाती हैं कि यह किससे बना है, यह किससे बना है। अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह सब आकाश, स्पेस, है। गार्गी पूछती हैं कि यह किसमें समाया हुआ है तो याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसके आगे आप सवाल मत करो, यह अनादि प्रश्न हो जाता है। बुद्ध भी कहते थे कि अव्याप्त प्रश्न है। बहुत सारे सवाल ऐसे हैं जहां पहुंचकर रुक जाना चाहिए क्योंकि उनका जवाब नहीं बनता और उससे कुछ हासिल भी नहीं होता। हमारे दर्शन में इसे वितण्डा कहते हैं। सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में सीखने वाला और सिखाने वाला दोनों एक भ्रामक चक्र में फंस जाएं और तत्व तक नहीं पहुंच पाएं तो इसे अनादि प्रश्न कहते हैं।

इसके बाद व्याख्या है। किसी सिद्धांत के समझाने को व्याख्या कहते हैं। फिर अनुव्याख्या है। यानी, व्याख्या पर फिर से स्पष्टीकरण का अपेक्षित होना। दृष्टांत में किसी उदाहरण के द्वारा समझाते हैं, कई उदाहरणों से समझाते हैं। जैसे, यह घड़ा है और मिट्टी से बनी हुई चीजों को समझ लोगे तो उन सबको समझ लोगे या गूलर का फल लाकर उसके

द्वारा समझाते हैं। आख्यायिका है, किसी कथा या आख्यान के द्वारा समझाते हैं, कोई किस्से-कहानी कहकर समझाते हैं। ऊर्ध्व प्रवचन हैं। अगर कोई शिष्य जिज्ञासा करता है तो गुरु उससे पूछता है कि तुम कहां तक जानते हो। अगर कोई भूगोल समझना चाहता है तो गुरु पूछता है कि तुम इससे पहले कितना भूगोल पढ़ चुके हो, उससे आगे की बात करेंगे। मोटे तौर पर शिक्षण की यह एक विधि बनाई गई। ये मोटी-मोटी चीजें हैं। जब इस विधि को लागू करते हैं तो धीरे-धीरे गुरु-शिष्य के संबंध में कहीं न कहीं यह बोध बना हुआ है कि जो ज्ञान हम दे रहे हैं वह इसके भीतर पहुंच रहा है या नहीं पहुंच रहा है या बोध हो रहा है या नहीं हो रहा है। इस प्रणाली के द्वारा एक सीमा तक वे जांच करते हैं। अन्यथा, जो बोध करता है उसे ही यह बताने का अधिकार है कि उसे बोध हुआ या नहीं।

प्रश्न : ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया को देखें तो बहुत-सी प्रचलित कथाओं में यह दर्ज है कि ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग कष्ट से भरा हुआ है। ज्ञान प्राप्त करने और कष्ट के संबंध को आप कैसे देखते हैं?

उत्तर : हां, जिसे हम ज्ञान कह रहे हैं, उसे प्राप्त करने का मार्ग कष्ट से भरा हुआ है। यह इसलिए सही है कि हम जिन्हें विद्याएं कहते हैं उन्हें हासिल करने का मार्ग शायद इतना कष्ट से भरा हुआ नहीं है। अगर हमारे पास सीखने की सुविधाएं हैं तो हम इंजीनियरिंग या मैनेजमेंट के कोर्स अच्छी फीस देकर सीख लेते हैं। यदि हमारे पास पैसे की सुविधा है तो सीखने या विद्याओं को हासिल करने का मार्ग इतना कष्टप्रद नहीं भी हो सकता है। हालांकि हर विद्या को अर्जित करने में थोड़ा कष्ट तो होता ही है क्योंकि उसके लिए साधना करनी पड़ती है, श्रम करना पड़ता है, अभ्यास करना पड़ता है। हमारी परंपरा में जिसे ज्ञान कहा जा रहा है, अगर आप उस अर्थ में कह रहे हैं तो उसमें कष्ट इसलिए होता है क्योंकि जो व्यवहार का संसार है, वह हमारे साथ लगा रहता है। उससे ऊपर उठकर ज्ञान की सीढ़ियां तय करना या उसकी मजिलें हासिल करने में कष्ट होता है। इसमें आत्मयंत्रणा हो सकती है कि कैसे हम लौकिक जगत को त्यागेंगे। इस प्रक्रिया में जानने वाला अपने भीतर एक आत्मसंघर्ष से गुजरता है। आज के समय में इसे कहना मुश्किल है क्योंकि आज की शिक्षा प्रणाली से तो इसका कोई संबंध है नहीं। यदि उदाहरण देना हो तो बुद्ध का उदाहरण है।

हमारे यहां बुद्ध भी बहुत बड़े शिक्षक रहे हैं। वे किस तरह बोलते हैं, किस तरह से भिक्षुओं को समझाते हैं, इससे समझ सकते हैं कि वे इतने बड़े शिक्षक कैसे बने। जैसे, जे. कृष्णमूर्ति अच्छे गुरु हैं। जिस तरह वे समझाते हैं, बताते हैं वे अनुभव से बोलते हैं। बुद्ध बड़े शिक्षक इसलिए हैं क्योंकि वे अनुभवी हैं और आत्मसंघर्ष से गुजर चुके हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए जो कष्ट का मार्ग है उससे वे गुजर चुके हैं। यदि जाननियां देखें, जैसे अश्वघोष का बुद्धचरितम्, तो वे कितने तकलीफ उठाते हैं। वे कितने ऋषियों, विचारकों से मिलते हैं लेकिन किसी से उन्हें संतोष नहीं मिलता। उनके भीतर अपने-आपको पहचानने की जद्दोजहद और ज्ञान के बोध की मंजिल तक पहुंचने के लिए जो रास्ता तय करना पड़ता है वह जोखिम और कष्ट का रास्ता है। प्रतीकात्मक रूप में देखें तो, काम उन पर कितने तरीके का हमला करता है, उनको कितना डराता है। मानसिक जगत में यह एक तरह से प्रतीकात्मक रूप में घटित होता है कि संसार उन पर, उनके मानस जगत पर हमला करता है। जितने भी ज्ञानी हुए उनको इस रोजमर्रा के संसार के संघर्ष से गुजरना पड़ा। इसलिए उनको एक अर्थ में ज्ञान विरोधी भी कहा गया है क्योंकि सारी विद्याएं, सीख, कौशल, हुनर हैं लेकिन जिसे हम ज्ञान कहते हैं वे उसके विरोध में जाते हैं। क्योंकि वे उस पर हमला भी करते हैं। उनमें संतुलन उत्पन्न करना कठिन है। हमारे यहां कहा गया है कि एक-दूसरे में जुड़े हुए हैं। लेकिन यदि ज्ञान का बोध सचमुच में प्राप्त करना चाहता है तो कई बार इनसे ऊपर उठना पड़ता है। इनमें एक तरह से द्वंद्व भी होता है। उस द्वंद्व के कारण ज्ञान प्राप्त करना कष्टकारी होता है, ऐसा हम कह सकते हैं। यदि सवाल आपका इससे संबंधित है तो हमारा उत्तर यही हो सकता है कि हां, ज्ञान का मार्ग कष्ट का मार्ग है। क्योंकि बुद्ध आदि ज्ञानीजनों ने उस कष्ट के मार्ग पर चलकर बुद्धत्व प्राप्त किया है और यदि बुद्धत्व से आशय है तब हम कह सकते हैं कि कष्ट का मार्ग है।

प्रश्न : जिसे वे कहते हैं कि सुखातिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतो सुखम् ।

उत्तर : हां, उस अर्थ में भी वह कष्ट का मार्ग है। हमारे यहां यह माना गया है कि उसे साधना तो करनी है। यदि वह अपनी सुख-सुविधाओं की ओर ज्यादा ध्यान देगा तो वह विद्या नहीं प्राप्त कर सकेगा। जिस बुद्धत्व और ज्ञान की हम चर्चा कर रहे हैं उसके अर्थ में इस श्लोक में वहां विद्या नहीं है। जितनी भी विद्याएं हैं, जिसमें 64 कलाएं भी हो सकती हैं, और यदि आप संगीत सीखना चाहते हैं तो उसमें भी आपको साधना तो करनी पड़ेगी। आप जितना ज्यादा रियाज करेंगे उतना अच्छा संगीत सीख पाएंगे। इसके लिए कई बार खाने-पीने का होश-हवास भी नहीं रहता। अगर आप कोई विद्या, हुनर या कौशल सीखना चाहते हैं तो कष्ट का वरण तो करना ही पड़ेगा। इस अर्थ में वह कष्ट का मार्ग है। लेकिन हम इसे सदैव सही नहीं मानते क्योंकि यह सीखना आनन्द के साथ भी हो सकता है। पुराने लोगों में यह परंपराएं चली आ रही हैं कि सुख का, आनन्द का विचार छोड़ दो। यह एक साधना है। पुराने गुरु अपने शिष्य के जीवन का नियोजन इस तरह करते थे कि कहीं वह सुख-सुविधा के प्रपंच में न पड़ जाए। इसलिए वहां खेल-खेल में शिक्षा का कोई विचार नहीं है। कठिन प्रशिक्षण के तौर पर वहां शिक्षा होती है। इस दृष्टि से भी कष्ट का मार्ग है। लेकिन यह सर्वत्र सही नहीं है। सर्वत्र कष्ट से गुजर कर ही उसे विद्या की प्राप्ति होगी, यह हम नहीं कह सकते।

प्रश्न : जिसे आजकल प्रगतिशील शिक्षा कहते हैं जिसमें सीखने का आनन्द या आनन्दमयी शिक्षा की बात की जाती है उसके संदर्भ में यह कहां तक सही बैठता है?

उत्तर : यदि इस संदर्भ में हम देखने की कोशिश करते हैं तो यह विचार कि ज्ञान का मार्ग कष्टकर होता है, यह गलत साबित होता है। यह पुराना विचार हो जाता है। अगर हम उस अर्थ में जिसमें बुद्ध का ज्ञान है या जो जे. कृष्णमूर्ति को बोध हुआ है या महान ज्ञानियों को बोध हुआ, वह कष्ट का मार्ग है क्योंकि वे सभी किसी न किसी मानसिक संसार के आत्मसंघर्ष से गुजरकर उस बोध तक पहुंचे हैं।

प्रश्न : तो क्या इसे आत्मसंघर्ष के रूप में देखा जाए?

उत्तर : हां, भौतिक कष्ट उतना नहीं है, भौतिक कष्ट तो उसे नहीं कह सकते। हालांकि शरीर की सुख-सुविधा उसमें भी बिसर जाती है। इस अर्थ में शरीर को उसमें कष्ट देना होता है। लेकिन वह एक अलग सवाल है। यदि हम आज के अर्थ में शिक्षा की बात कर रहे हैं तो वह कष्ट का मार्ग नहीं होना चाहिए। आज के अर्थ में जितनी शिक्षा या ज्ञान है उसकी प्रणाली उसी तरह से नियोजित करनी चाहिए कि हम उसे जीवन के सारे आनन्द, सृजन के आनन्द, रचने के आनन्द के साथ हासिल करें और अपनी परिपूर्णता का अनुभव भी हम उसमें करें। यही एक ज्यादा स्वस्थ विचार है।

प्रश्न : आपने सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के बारे में काफी कुछ बताया है लेकिन एक बात यह कही जाती है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। आम बोल-चाल में भी यह अनेक बार बोला जाता है।

उत्तर : हमारे यहां मूलतः यह अवधारणा रही है कि गुरु और शिष्य एक-दूसरे के लिए पूरक हैं। शिष्य अच्छा है तभी तो गुरु का ज्ञान सार्थक होगा और शिष्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है, इस दृष्टि से कह सकते हैं कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं है। लेकिन हमारे यहां एक अवधारणा यह भी है कि मनुष्य स्वयं अपना गुरु बने या बन सकता है। अतः प्रतिभा ही गुरु है। शैव दर्शन में यह अवधारणा ही है। जब व्यक्ति अपने-आप अपने भीतर ज्ञान खोजता है तो अपना गुरु अपने भीतर ही है। एक भौतिक गुरु की हमेशा सीमाएं होती हैं। गुरु भी एक मनुष्य ही है, वह कोई ईश्वर नहीं है। अतः उसके ज्ञान की भी सीमाएं हो सकती हैं। यह भी हो सकता है कि शिष्य को यह अनुभव हो कि वह जो सीखना चाहता है वह सब उनके पास नहीं है। इसलिए ऐसा तो होता ही आया है कि जितनी विद्याएं हैं उनमें से

कुछ किसी एक से सीखीं और कुछ किसी दूसरे से। ऐसा उपनिषदों के आश्रमों में लोग बहुत करते थे कि सांख्य एक के पास पढ़ते थे और न्याय दूसरे के पास। हरेक का अपना-अपना विषय है उनके पास जाकर सीख रहे हैं, पढ़ रहे हैं। गुरु की अपनी सीमाएं हो सकती हैं और सदैव यह नहीं कह सकते कि बिना गुरु के ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि जो आध्यात्मिक साधना या आध्यात्म विद्याएं हैं उनमें कहीं-कहीं जोर देकर यह बात कही गई है कि यह गुरु के बिना नहीं होगा। लेकिन वहां पर भी प्रतिभा ही अपनी गुरु हो जाती है, यह माना गया है। सही तो यही है कि गुरु का काम रास्ता बताना होता है, यदि वह जानता है तो एक दिक्-दर्शक का काम करता है। खोजना, प्राप्त करना, हासिल करना शिष्य को अपने-आप ही करना होता है। इसलिए सदैव यह नहीं कह सकते कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं हो सकता।

हमारे यहां कुछ परंपराओं में गुरु की महिमा बहुत ज्यादा बताई गई है। उपनिषदों और प्राचीन वांड.मय में तो गुरु की महिमा इस रूप में कहीं नहीं है। लेकिन कुछ परंपराओं में बताई गई है। होता यह आया है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं। गुरु भी अपने ज्ञान का मार्जन-परिमार्जन शिष्यों के साथ मिल-बैठकर ही करता है, जैसा कि हम उपनिषदों में देखते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि हमारा अध्ययन तेजस्वी बने। तेजस्वी का मतलब है कारगर, प्रभावी। गुरु शिष्यों से कहते हैं कि हम लोगों का अध्ययन तेजस्वी बने। वे यह नहीं कहते कि मेरी वजह से तुम्हारा अध्ययन तेजस्वी हो जाएगा या बनेगा। वे कहना चाहते हैं कि हम आपस में विचार-विमर्श करें, तुम्हारे प्रश्न, मेरे उत्तर या फिर मेरा प्रश्न और तुम्हारा कुछ कहना, इससे हम एक-दूसरे के अध्ययन को तेजस्वी बनाते हैं। यह एक तरह से ज्यादा सही उत्तर हो सकता है चूंकि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है इसलिए दोनों एक-दूसरे के साथ, विमर्श के द्वारा ज्ञान की परंपराओं का विस्तार करते हैं।

अगर हमारे समय में भी हम देखें तो सबसे अच्छा एक उदाहरण रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द का है। अगर हम उन दोनों की जीवनी देखते हैं तो यह पता चलता है कि विवेकानन्द बार-बार परमहंस को गुरु कहकर बड़ी श्रद्धा से उनका स्मरण करते हैं। उनकी जीवनी देखें तो आपको लगेगा कि विवेकानन्द को उन्होंने बदल दिया लेकिन रामकृष्ण परमहंस के विवेकानन्द से मिलने के बाद उनमें खुद भी बहुत बदलाव आता है। क्योंकि विवेकानन्द उनसे बहुत बहस करते थे और उनमें इतनी ज्यादा बहस होती थी कि रामकृष्ण परमहंस दुखी हो जाते थे कि ये बार-बार मुझे हर बात पर टोकता है। उनके कारण उनमें बदलाव आता गया। क्योंकि वे कई तरह के अनुष्ठान करते थे, कभी साड़ी पहनकर स्त्री की तरह पूजा करेंगे, कभी कुछ। इस पर विवेकानन्द उन्हें बहुत सुनाते थे। इससे उनमें भी कुछ बदलाव आया। विवेकानन्द का रामकृष्ण परमहंस से नजरिया ही अलग था, भले ही वे मन से उनको अपना गुरु मानते हों। दोनों के बीच यह दृष्टि भेद है, बहस है। इससे दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं, एक-दूसरे का परिमार्जन करते हैं और हम कह सकते हैं कि वे अपनी ज्ञान की यात्रा का विकास करते हैं।

प्रश्न : बुद्ध के बारे में भी कहते हैं कि जब उनको ज्ञान प्राप्त हुआ तो वे बौद्ध गया से सारनाथ अपने शिष्यों को तलाशने गए...

उत्तर : हां, उनको लगा कि जब तक मैं उनको यह नहीं दे दूंगा तब तक इसकी परिपूर्णता नहीं होगी। जिन लोगों ने उनके साथ साधना की थी और फिर छोड़ गए थे कि अब तुम्हारा रास्ता अलग है। फिर उन्हीं के पास वे आते हैं कि उन लोगों को बताकर मैं परखूंगा कि जो बोध मुझे हुआ है यह कितना सही है। अपने ज्ञान के प्रमाणीकरण के लिए भी गुरु को शिष्य की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी की शिष्यों को एक गुरु की आवश्यकता होती है।

प्रश्न : शिक्षक के लिए गुरु, आचार्य, उपाध्याय, शिक्षक, अध्यापक आदि शब्दों का इस्तेमाल होता है। क्या यह प्रयोग समय के साथ बदलता रहा है या ये सभी समानार्थी हैं?

उत्तर : हां, बाद में समानार्थी के रूप में भी प्रयोग हुए हैं लेकिन इनमें एक ऐतिहासिक क्रम रहा है। हमारे यहां आचार्य शब्द सबसे पहले अध्यापक के लिए इस्तेमाल हुआ है और उसके कुछ बाद में उपाध्याय शब्द आता है। आचार्य शब्द वेदों में आ जाता है और वहां शिष्य शब्द नहीं आता। इसके लिए वहां ब्रह्मचारी या आचारी शब्द आता है। ब्रह्मचारी शब्द आधुनिक संदर्भ के अनुसार वहां ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले अर्थ नहीं है। ब्रह्मज्ञान को कहते हैं यानी ज्ञान की चर्या करने वाला। ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो एक गुरु के पास रहकर चर्या कर रहा है, आचरण कर रहा है, उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। वहां उन्होंने आचार्य और ब्रह्मचारी के संबंध को भी बताया है कि दोनों में कैसा रिश्ता होना चाहिए। उसके बारे में अथर्ववेद में कहा गया है कि आचार्य ब्रह्मचारी को नया जन्म देता है। एक जन्म वह अपनी मां से प्राप्त करता है और दूसरा जन्म आचार्य से प्राप्त करता है। इसलिए उसे द्विज कहा है। यानी उपनयन के बाद उसका दूसरा जन्म होता है। जैसे ही वह आचार्य से दीक्षित हो जाता है वैसे ही शिक्षा उसको नया जन्म देती है। क्योंकि शिक्षा से वह संस्कार प्राप्त करता है और जब तक संस्कार नहीं हैं तब तक पहला जन्म है और संस्कार प्राप्त करने लगेगा तो उसका दूसरा जन्म हुआ है। अतः ब्राह्मण को ही द्विज नहीं कहते थे, जिन-जिन का उपनयन होता है, जिनका शिक्षा के लिए प्रवर्तन होता है वे सब द्विज हैं। इसलिए पहले क्षत्रिय, वैश्य को भी द्विज कहा जाता था।

आचार्य सबसे पुराना शब्द हुआ, फिर उपाध्याय है और बाद में गुरु शब्द का भी प्रयोग आता है। उसकी गरिमा के कारण गुरु कहा गया। गुरु बड़े जन के लिए आता है। मूलतः इसका अर्थ अपने से जो भी बड़ा हो, उसे गुरु कहते हैं। इस अर्थ में पिता भी गुरु हैं, माता भी गुरु हैं। चूंकि शिक्षक अपने से बड़ा है ही इसलिए उसे गुरु कहने लग गए। मूलतः जो शिक्षा देने वाला है उसके लिए गुरु शब्द नहीं आया है। यह एक विचित्र बात है कि इस समय हम बार-बार गुरु ही कहते हैं। यह गुरु का एक लाक्षणिक प्रयोग है। हमारे यहां शिक्षक शब्द भी बहुत बाद में आता है क्योंकि 'एजुकेशन' के अर्थ में हमारे यहां शिक्षा शब्द नहीं आया है। हमारे यहां ज्ञान, विद्या और स्वाध्याय शब्द आते हैं। स्वाध्याय एक बहुत बड़ा शब्द है जो निरंतर सीखने के लिए प्रयुक्त होता है। उपनिषदों में गुरुकुल से, आश्रम से जब विद्या पूरी हो जाती थी तो एक समावर्तन संस्कार होता था जिसे आजकल कॉन्वोकेशन कहते हैं। वह एक संस्कार समावर्तन का है। समावर्तन का अर्थ होता था कि विद्या पूरी हो गई है तो उसका एक पूरा संस्कार होगा, विद्या देने के समय, आश्रम छोड़कर जाने के समय। उसे स्नातक कहते हैं। स्नातक तो अभी भी कहते हैं लेकिन स्नातक उस समय होता था क्योंकि वह आखिरी या अच्छी तरह से स्नान करेगा, फिर गुरु से विद्या लेने जाएगा। अर्थात् आखिरी दिन विद्या लेने से पहले स्नान कर लिया है तो स्नातक हो गया है। तब उसका समावर्तन होगा। समावर्तन यानी, वह विद्या लेकर फिर से अपने संसार में लौटकर जा रहा है। समावर्तन संस्कार के समय उसे कहते थे कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद या गफलत मत करना। जितना भी उसका ज्ञान है उसकी रोज आवृत्ति करे, अपने भीतर बुनता रहे, इसे स्वाध्याय कहा गया है। उसके बाद अध्यापक शब्द आता है। अध्यापन, स्वाध्याय, अध्येता, अधिति शब्द भी जुड़े हुए हैं। यह एक ही धातु से बने हुए हैं। यह अध्ययन की प्रक्रिया से जुड़े हुए शब्द हैं। पढ़ने वाला, पढ़ाने वाला; इनके लिए यह शब्द आते हैं। हमारे यहां यह शब्द हैं।

विद्यार्जन के पश्चात् लौटकर गृहस्थ आश्रम में वह जाता है। गृहस्थ के लिए पांच यज्ञ उन्होंने माने हैं। उसमें अध्यापन पहला यज्ञ है, उसे ब्रह्म यज्ञ भी कहा गया है। जिस तरह इस्लाम में पांच बार नमाज पढ़ना जरूरी है, उसी तरह गृहस्थ को रोजाना पांच यज्ञ करने चाहिए, यह धर्म शास्त्र में विधान है। गृहस्थ लोग उस जीवन प्रणाली के अनुसार जीवन बिताते थे, वे पांच यज्ञ करते ही थे। फिर अतिथि यज्ञ है। जो कोई घर में बिना सूचना के घूमता-फिरता आ जाए, उसे पहले भोजन कराना, उसकी रहने-ठहरने की व्यवस्था करना अतिथि यज्ञ हुआ। फिर देव यज्ञ है, जो पर्यावरण की शुद्धि के लिए या जो अमूर्त तत्व हैं, उनके लिए किया जाएगा। और अन्य प्राणियों के लिए जो बचा हुआ भोजन छोड़ दिया जाएगा वह भूत यज्ञ या बलि है। यह पांच यज्ञ रोज करने ही चाहिए। सबसे पहला तो अध्यापन, ब्रह्म यज्ञ ही है। हमारी जो जीवन प्रणाली थी, उसमें जिस प्रकार शिक्षा को स्थान दिया गया, इसे हम उसका एक नमूना कह सकते हैं। उन्होंने जिस जीवन की परिकल्पना की उसमें सारा जीवन ही यज्ञ है। यज्ञ का आशय है कि हम केवल

अपने लिए नहीं जी रहे हैं, अपने-आपको किसी बड़े उद्देश्य के लिए विसर्जित करते हैं, अपने से किसी बड़े के लिए, अनन्त से जुड़ने के लिए। उसमें अध्यापन पहला यज्ञ है, इसको करके ही हम अपने-आपको परिपूर्ण बनाते हैं। गुरुकुल से निकला हुआ जो भी विद्यार्थी है, जब वह गृहस्थ हो गया है तो यह अध्यापन उसे करना ही चाहिए। उसमें फीस नहीं होती क्योंकि उसके घर जो भी जा जाएगा, उसे वह ज्ञान देगा। यह उसका रोज का कर्तव्य है। अगर उसे यह रोज करना है तो फिर उसे एक शिष्य चाहिए, यह उसकी गरज हो जाती है। उसे योग्य शिष्य ढूंढना पड़ेगा। हमारे यहां यह अवधारणा है कि शिष्य ही गुरु को ढूंढता हुआ आएगा और उससे ज्ञान प्राप्त करेगा। इतना ही नहीं यज्ञ प्रक्रिया के बिना उसका जीवन पूरा नहीं होता। क्योंकि उसका दायित्व ही है कि जो ज्ञान उसके पास है उसे किसी को नित्य प्रति देना ही चाहिए। मूलतः यह हमारे यहां है, व्यवहार में तो यह सब छूट जाते हैं, उस रूप में नहीं रह जाते। लेकिन जिस रूप में हमने जीवन को, जीवन के चक्र को देखा और जो हमारा सृष्टि का बोध था, उसमें हम मनुष्य की नियति समझते थे। यह एक हमारी परंपरा है लेकिन हमारे यहां और भी परंपराएं हैं। इसमें हमने गुरु और शिष्य तथा विद्या और ज्ञान की परिकल्पना इस रूप में की है।

प्रश्न : आपने कहा था कि हमारी परंपरा में शिक्षा शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में नहीं हुआ है। आधुनिक अर्थों में इसका प्रयोग कब से माना जा सकता है?

उत्तर : मूलतः शिक्षा शब्द का प्रयोग परंपरागत साहित्य में फोनेटिक्स और फोनोलॉजी के लिए आया है। बोलने की कला सिखाने के विषय के रूप में आया है, लेकिन यह शिक्ष धातु से बना है जिसका अर्थ सीखना होता है। इस मायने में शिक्षक सिखाने वाला हो जाएगा और शिक्ष्य या शिष्य सीखने वाले के लिए आ जाएगा। यह शब्द थोड़ा बाद में आया कि विद्याएं सिखाने वाले को शिक्षक कहा जाए। जहां तक मेरी जानकारी है, इस अर्थ में पुराना प्रयोग कालिदास के मालविकाग्निमित्रम नाटक में ही आता है। वेदों में देवताओं को शिक्षा देने वाला कहा गया है। उस अर्थ में यह अवधारणा हमारे यहां रही है कि सिखाने की एक प्रक्रिया है और उसमें एक सिखाने वाला होता है। लेकिन जब हमने एक विषय के रूप में शिक्षा की परिकल्पना की तो वह उच्चारण की शिक्षा के रूप में ही की। ऐसा इसलिए कि हमारे यहां जो पूरी परंपरा थी वह वाक् केन्द्रित परंपरा थी। उसमें बोलने और सुनने की प्राथमिकता थी, लिखने और पढ़ने की प्राथमिकता नहीं थी। हमारी प्रणाली में बोलना और सुनना सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, इसलिए भाषा के सही इस्तेमाल को महत्व दिया गया। हमारे यहां यह भी माना गया है कि इस संसार को हम भाषा के द्वारा समझते हैं, जानते हैं। अतः यदि हम भाषा को नहीं समझते तो हम संसार को भी नहीं समझ सकते। यह कहा गया है कि शब्द संसार को जन्म देता है। क्योंकि यदि शब्द और भाषा हमारे पास नहीं है तो संसार हमारे लिए खोया हुआ है और हम संसार की पहचान नहीं कर सकते। क्योंकि हमारा व्यवहार ही शब्दों या भाषा से चलता है। इसलिए यह माना गया है कि संसार को हम भाषा के द्वारा रचते हैं। अन्यथा, यदि हमारे पास उनके लिए शब्द नहीं हैं तो चीजें अन-पहचानी हो जाएंगी। भाषा के द्वारा हम संसार को बना सकते हैं, रच सकते हैं और उसे बदल भी सकते हैं। इसलिए वाक् की सत्ता बड़ी महत्वपूर्ण मानी गई है। इसीलिए जितने वेदांग हैं उसमें से चार तो कम से कम भाषा से ही जुड़े हुए हैं। व्याकरण और निरुक्त भी भाषा से जुड़ा हुआ। क्योंकि पूरा जीवन और सृष्टि एक लय, गति से बंधा हुआ है, अतः उस सृष्टि की लय को समझने के लिए हमें छन्द का ज्ञान होना चाहिए। यह सब विषय भाषा की, शब्द की, वाक् की प्रधानता के कारण हमारी शिक्षा प्रणाली में आए।

प्रश्न : आपने कहा कि गुरु और शिष्य एक-दूसरे के पूरक हैं। हमारी परंपरा में गुरु और शिष्य के मध्य किस तरह के संबंधों के उदाहरण देखने को मिलते हैं? ये किस तरह के मूल्यों और परंपराओं की तरफ इशारा करते हैं?

उत्तर : हमारे यहां प्राचीन काल से ही गुरु और शिष्य के बीच बहुत ही जीवन्त संबंध कहे जा सकते हैं। एक शिष्य के जीवन का निर्माण किस तरह हो, गुरु इस पर विचार करते हैं कि सचमुच में उसके भीतर बोध जागृत हो, उसे संस्कार प्राप्त हों और इसका प्रयास करते हैं। यह माना गया है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वेद और उपनिषद

तक हमारी जो परंपरा रही है उसमें तो गुरु के प्रति भक्ति भावना नहीं है। उसमें श्रद्धा और आदर का भाव हो सकता है क्योंकि वह बड़ा तथा अधिक जानने वाला है। लेकिन उसकी पूजा की जाए, ऐसा विचार तो वहां नहीं है। बाद में आदर और श्रद्धा के कारण उसमें पूज्य-पूजक भाव और देवता की तरह पूजने का भाव आ जाता है। ऐसे भी गुरु हुए हैं जिन्हें पूज्य के रूप में और देवता की तरह देखा जाने लगा। और फिर उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा की जाने लगी। जैसे शंकराचार्य और रामानुज हुए हैं; जितने धार्मिक संप्रदाय बनते गए उनमें यह अधिक से अधिक होता गया। शिक्षा प्रणाली या धर्म को जितना सांगठनिक रूप दिया जाएगा उसमें यह बात अधिक से अधिक आने लगती है। फिर वह कहीं न कहीं पूजा और रिवाज में मुड़ जाती है।

हमारी गुरु-शिष्य संबंधों की परंपरा बड़ी जीवन्त और तेजस्वी है। लेकिन वह गुरु भक्ति की दिशा में मुड़ जाती है, ऐसा हम देखते हैं। अन्यथा, हमारे यहां बहुत पुराने विश्वविद्यालय रहे थे, उनमें भी मुझे नहीं लगता कि शिष्य लोग गुरु को देवता मानकर उनकी पूजा करने लग जाएंगे। आदर का भाव वहां जरूर रहा है ताकि बहस दोनों के बीच में लगातार होती रहे। जैसे, तक्षशिला बहुत पुराने विश्वविद्यालयों में है। वहां चाणक्य पढ़े थे, अष्टाध्यायी के रचियता और व्याकरण में दुनिया के महान विचारक पाणिनी, सुश्रत एवं चरक जैसे महान विचारकों का उल्लेख मिलता है कि वे तक्षशिला विश्वविद्यालय से निकले थे। नालन्दा में चीन से हेनसांग पढ़ने गया और उसमें दस हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। उसमें विदेशों से भी बहुत लोग पढ़ने आते थे। वहां यह प्रणालियां भी थी कि शिष्य की परीक्षा कैसे लेंगे, उसकी पात्रता क्या होगी। नालन्दा में प्रवेश लेना बहुत मुश्किल होता था। वहां द्वार पण्डित होता था जो मुख्य द्वार पर ही बैठा रहता था। जब तक परीक्षा न हो जाए तब तक कोई विद्यार्थी परिसर में भी नहीं आ सकता था। यह देखा जाता था कि वह योग्य है कि नहीं। लेकिन शिष्य की जरूरत होती थी, उसके बिना उनका ज्ञान पूरा नहीं होता। ऐसे शिष्यों को विश्वविद्यालयों में आदर के साथ स्थान देते थे। यह भाव नालन्दा में मेरे ख्याल में रहा है।

करीब डेढ़ हजार साल पहले तक एक अन्य विश्वविद्यालय विक्रमशिला हमारे यहां था। इन सबमें गुरु-शिष्य संबंध उतने ही जीवन्त रहे हैं। अनेक बार हमारे देश का गौरव बताने के लिए हम कहते हैं कि हम ज्ञान की दिशा में जगत गुरु रहे हैं। ऐसा हम इसलिए कहते हैं क्योंकि हमारे यहां गुरु-शिष्य परंपरा एक-दूसरे के पूरक के रूप में, ज्ञान का संवर्धन करने में बहुत तेजस्वी रही है। इसके उदाहरण मिलते हैं। जितने भी बड़े-बड़े बुद्धिजीवी और आचार्य हुए वे कई बार अपने गुरु को चुनौती देते हैं और चुनौती के द्वारा ज्ञान की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, नागार्जुन, धर्मकीर्ति; जो बहुत बड़े बौद्ध दार्शनिक हैं, ये अपने गुरुओं का खण्डन करते हैं। उनके मत का खण्डन करते हुए कहते भी हैं कि हमें थोड़ा तकलीफ भी है कि अपने गुरु की बात को हम खण्डित कर रहे हैं, आदर उनके प्रति है लेकिन हम असहमत हैं इसलिए उनका खण्डन करेंगे। जबकि इनका दर्शन एक ही है, अगर प्रतिस्पर्धी दर्शन है और तब खण्डन करते हैं तो बहुत ज्यादा बहस होती है। शंकराचार्य सांख्य-मीमांसा का खण्डन करेंगे ही, लेकिन एक ही संप्रदाय में शिष्य गुरु के मत का खण्डन करता है; यह परंपरा रही है। जब तक यह परंपरा रही तब तक हमारी शिक्षा प्रणाली और ज्ञानमीमांसा की परंपराएं बड़ी तेजस्वी बनी रहीं। इसलिए जब उपनिषद के गुरु कहते थे कि हमारा अध्ययन तेजस्वी हो तो वे यह देखते थे कि एक-दूसरे से विमर्श, असहमति और संवाद से हम ज्ञान का संवर्द्धन करते हैं, अपने भीतर जो ज्ञान है उसे हम ताजा करते हैं; ऐसा वे मानते थे।

लेकिन बाद की परंपराओं में, शायद भक्तिकाल के प्रभाव से, गुरु-शिष्य संबंध प्रभावित हुए। यह एक ऐतिहासिक क्रम था जब भक्ति आंदोलन सारे देश में फैला। क्योंकि उस वक्त हमारे यहां गुरु को अधिक भक्ति भाव से देखने लगे। फिर गुरु की महिमा का बखान करने वाले बहुत सारे कथन, काव्य हमारे यहां लिखे गए। जहां तक मैं समझता हूं, यह दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद हमारे यहां अधिक हुआ है। वह हमारी परंपरा का बहुत तेजस्वी हिस्सा नहीं है। गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव की अपनी अर्थवत्ता, मूल्यवत्ता अवश्य है। हो सकता है कि इसमें कुछ अच्छी बात हो लेकिन ज्ञान को तेजस्वी बनाने की परंपरा है, उससे एक तरह से वह हट जाती है; ऐसा हम कह सकते हैं।

प्रश्न : आपके अनुसार वे क्या कारण रहे हैं जिनके चलते भक्ति काल का प्रभाव बाकी परंपराओं पर हावी हो गया और आज तक भी बना हुआ है?

उत्तर : भक्ति काल का असर हमारे सामाजिक जीवन के सभी पक्षों पर पड़ा, इसलिए शिक्षा प्रणाली उससे कैसे अछूती रहती। भक्ति काल ने हमारी सामाजिक संस्थाओं को एक तरह से बहुत प्रभावित किया और इसलिए उसका असर शिक्षा व्यवस्था और गुरु-शिष्य संबंधों पर भी हुआ। इसके अनेक ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं। मध्य काल में पूरे उत्तर भारत में मुस्लिम शासन आया, उसकी प्रतिक्रिया भी कहीं न कहीं हुई। उस नाते अपने देवताओं और ईश्वर की परिकल्पना नए सिरे से की गई। अपने-आपको बदले हुए राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में पुनः परिभाषित करने की कोशिश रही है। उसके कारण हमारी पूरी शिक्षा प्रणाली भी बदलती है। उसमें कहीं न कहीं भक्ति के माध्यम से विरोध भी है। उसका एक सामाजिक पक्ष भी है कि हम किसी सामन्त या बादशाह के चले नहीं हैं। हमारे बादशाह तो रघुवीर हैं। यह ईश्वर में साहरा ढूंढने का एक तरीका है और एक अर्थ में कहीं न कहीं विरोध भी है। यदि आदमी को लग रहा है कि उस पर बहुत ज्यादा अन्याय हो रहा है या शोषण हो रहा है तो वह ईश्वर में अवलम्बन खोजता है। यह मनुष्य की सहज प्रवृत्ति भी है। ज्ञान, कर्म और भक्ति मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां हैं। अपने से बड़े के प्रति हमारा मन झुकता है यह सहज प्रवृत्ति है। ज्ञान, कर्म और भक्ति में से अलग-अलग युगों में शायद अलग-अलग प्रवृत्तियां प्रधान रही हैं। अलग-अलग मनुष्यों में अलग-अलग प्रवृत्तियां प्रधान रही हैं। हमारे यहां आदर्श यह माना जाता रहा है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति का सामंजस्य होना चाहिए। जैसा ईशोपनिषद में कहा है कि जो केवल विद्या में ही डूबा रह जाता है वह भी अंधेरे में डूब जाएगा और जो अविद्या में डूबा रह जाता है वह भी। उसी तरह से तीनों में कोई एक ज्यादा हो जाएगी और बाकी उसके मुकाबले बहुत गौण हो जाएगी तो वह एक समाज के लिए स्वस्थ स्थिति नहीं है। क्योंकि भक्ति काल की अपनी विशेषताएं थीं। उसने हमारे समाज को बड़ा संबल दिया। यह कह सकते हैं कि भक्ति काल ने हमारे समाज को उस वक्त की चरम हताशा की स्थितियों से किसी तरह बचाकर रखा। लेकिन उसमें कहीं न कहीं एक अति भी हो जाती है और हम बहुत सारी तेजस्वी परंपराओं से हट जाते हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली में भी उसका असर हुआ कि ज्ञान की गुरु-शिष्य की तेजस्वी परंपराएं कहीं न कहीं उपेक्षित हुईं या दरकिनार कर दी गईं।

प्रश्न : क्या यह मठ वगैरहा के भी पक्ष में था कि इस परंपरा को बनाए रखें?

उत्तर : हां, यह कह सकते हैं कि जब संगठन होगा तो संभवतः गुरुओं के मन में कहीं न कहीं यह भावना आ जाती है कि उनकी पूजा होती रहे। यह उनके लिए एक सुखकर, सुविधाजनक मार्ग है, क्योंकि सारी तेजस्विता, जिज्ञासा, विरोध, असहमति, चुनौती से तो असुविधा होती है। उसकी बजाय यह कि हमारा आशीर्वाद ही काफी है, हमारी महिमा का गायन करो, उससे सब कुछ हो जाएगा। इसे प्रचारित करते रहना उनके लिए एक सुविधा का मार्ग बन गया। इससे गुरु-शिष्य के लिए कष्ट का मार्ग छूट जाता है जिससे उनको गुजरना होता है। ऐसे गुरु हमारे यहां होते रहे हैं। हमारे यहां दिक्कत यह है कि पूरा भक्ति काल लगभग एक हजार साल चलता है, क्योंकि यह दक्षिण में तो चौथी, पांचवीं, छठी शताब्दी में आरंभ हो जाता है और उत्तर में उसके थोड़ा बाद आता है। संस्कृत में भक्ति का प्रभाव आ रहा है और यह बहुत बाद तक चलता है। इसकी करीब एक सहस्राब्दी या उससे कुछ ज्यादा की लम्बी धारा है उससे हमारी मानसिक बनावट और हमारी शिक्षा प्रणाली में नियोजक और ग्राहकों की मानसिक बनावट पर इसका काफी असर हुआ। अभी भी हमारे यहां विरोध या असहमति की जो एक परंपरा रही है, उसे स्वीकार करने वाले नहीं मिलते हैं। अगर हम आज भी अपने पण्डितों के समाज में ऐसी बात करते हैं तो वे लोग हमें बस पीटते ही नहीं है, बस यही है कि चुपचाप सुन सकते हैं। यह स्थिति है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि भक्ति काल का एक यह पक्ष है जिससे कि बहुत सारे उज्ज्वल पक्ष ओझल हो गए हैं।

प्रश्न : यह आखिरी प्रश्न है। एक बार आपने गुरु की अमूर्त अवधारणा पर बात की थी कि परब्रह्मा ही गुरु है। आप थोड़ा इसके बारे में बताएं, क्या अर्थ है इसका?

उत्तर : हां, उस दृष्टि से हमारे यहां माना गया है जैसे कि शैव दर्शन में उन्होंने कहा कि प्रतिभा ही गुरु हो जाती है। यदि मनुष्य में प्रतिभा है, प्रतिभा हमारे यहां अलग दार्शनिक अवधारणा है कि हर मनुष्य में प्रतिभा रहती है बल्कि यह कहते हैं कि हर प्राणी में रहती है। क्योंकि चिड़िया अपना दाना खोज लेती है। भोर होने पर वह चहचाहती है, ठीक समय पर चिड़िया चहचाहती है, बहुत सारी चिड़ियां दस हजार किलोमीटर की यात्रा करके ठीक उसी स्थान पर पहुंचती हैं और ऐसे पहुंचती हैं कि एक किलोमीटर का भी फर्क नहीं पड़ता है। हमारे यहां सिकन्दरपुर में एक इलाका है। ठीक उसी जगह साइबेरिया वाले पक्षी हर साल पहुंचेंगे। वह दो-तीन एकड़ का इलाका है। वे उसी इलाके को कैसे पहचान लेते हैं। इसका अर्थ है कि उनके भीतर कोई न कोई संवेदन है, जिससे वे संसार को पहचान लेते हैं जबकि वह खुद नहीं जानता है कि उसके भीतर क्या संवेदन है। वह उसकी प्रतिभा है। जीनियस अलग अवधारणा है। बुद्धि, मेधा यह सब अलग अवधारणा हैं। हर प्राणी में प्रतिभा होती है लेकिन मनुष्य की प्रतिभा जागृत हो सकती है। यह माना गया है कि बाकी प्राणियों, पशु-पक्षियों में प्रतिभा होते हुए भी वह उद्बुद्ध नहीं हो सकती। यह जागृत प्रतिभा है वह फिर अपना गुरु बन जाती है क्योंकि वह उसके प्रकाश में संसार को पहचान सकता है। उसे ईश्वर रूप भी कहा गया है। ईश्वर कोई अलग नहीं है। यह भी माना गया कि ईश्वर ही यह है, तो हर मनुष्य के भीतर उसका ईश्वर है और वही प्रतिभा है और वही उसको रास्ता दिखा सकता है। यह माना गया कि फिर वही गुरु है। इसलिए वह एक अमूर्त गुरु है और उसे पहचानो; ऐसा वे कहते हैं। जब शब्दों में उसे बताते हैं तो चूंकि हमेशा भाषा में शब्द पर्याप्त नहीं होते हैं और शब्दों से गलतफहमियां पैदा होती हैं। वे जब अमूर्त गुरु की उपासना भी करते हैं तो अमूर्त गुरु की उपासना वाले जो श्लोक हैं उन्हें भी किसी गुरु के सामने रखकर बोल दिए जाते हैं, “ब्रह्मानंदम परम सुखदम केवलम ज्ञानमूर्ति”। यह सब श्लोक हम गुरु वंदना में बोलते हैं। उसमें जो अवधारणा है कि वह ज्ञान स्वरूप है, केवल ज्ञानमूर्ति है और अमूर्त है; यह वहां वे कहते आए हैं। यह दर्शन और मनुष्य के मनोविज्ञान की दृष्टि से जो पहचान हमारे यहां एक दर्शन ने की उसकी दृष्टि से यह एक अवधारणा है कि गुरु एक अमूर्त गुरु हो सकता है। ब्रह्मा स्वरूप इसलिए कहा कि ईश्वर कहीं बाहर तो है नहीं। यदि उसे बाहर या पत्थर में देखते हैं तो वह उसका एक प्रतीक है। यदि उसमें है तो सभी में है। सभी में है तो हमारे भीतर भी है। हमारे भीतर भी है तो हम उसको जागृत करेंगे तो वही हमारा गुरु हो जाएगा। शिक्षा प्रणाली की दृष्टि से यह मूलतः महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि जितना हम अपने भीतर आत्ममंथन करेंगे, अपने-आपको पहचानेंगे और अपने भीतर विराजे हुए गुरु को पहचानेंगे, उतना ही तुम्हारी विद्या उज्वल होगी और शिक्षा अच्छी होगी। इस अवधारणा में यह एक तरह से शिक्षा की दृष्टि से संदेश है। ♦